क्या चिंतन का कोई भारतीय तरीक़ा है?

एक अनौपचारिक निबंध

ए. के. रामानुजन

वॉल्टर बेंयामिन का तसव्वुर था कि उनकी किताबों के उद्धरण शाहराहों पर छिपे उन रहज़नों की तरह हैं जो मुसाफ़िर-पाठक पर औचक हमला करके उसके दृढ़ संकल्प व इल्मो-ईमान लूट लेते हैं।

I

स्तानिस्लाव्स्की अपने अभिनेताओं से एक अभ्यास करवाते थे। वे उन्हें रोज़मर्रा की ज़िंदगी का कोई जुमला, मसलन, 'मेरे लिए एक प्याली चाय ले आओ' देते थे, और कहते थे कि इस वाक्य को चालीस मुख़्तलिफ़ तरीक़े से बोलकर दिखाओ, जिनमें गिड़गिड़ाने, सवाल करने, मज़ाक उड़ाने, ख़ुशामद करने, और शाही हुक्म फ़रमाने, आदि की भाव-भंगिमाएँ पेश करने की माँग की जाती थी। मेरा सवाल,

'क्या चिंतन का कोई (एक) भारतीय तरीक़ा है' ऐसे अभ्यास के लिए मुफ़ीद है। ये सवाल भारत के बारे में बात करते हुए बार-बार पूछा जाता है, पर इस एक सवाल में कई सवाल छिपे हैं, जो पूछने वाले द्वारा ख़ास लफ़्ज़ पर दिये गये ज़ोर से ही साफ़ होता है। इसके कुछ संस्करण ये हो सकते हैं:

क्या चिंतन का कोई (एक) भारतीय तरीक़ा है?
क्या चिंतन का कोई *एक* भारतीय तरीक़ा है?
क्या चिंतन का कोई (एक) *भारतीय* तरीक़ा है?
क्या *चिंतन* का कोई (एक) भारतीय तरीक़ा है?

जवाब भी अनेक हो सकते हैं: जैसे कि, हाँ, भारतीय चिंतन पद्धति हुआ तो करती थी, लेकिन अब नहीं है। अगर आप भारतीय सोच के बारे में जानना ही चाहते हैं तो इन आधुनिक शहरातियों से कुछ हासिल नहीं होगा; पंडितों, वैद्यों, प्राचीन ग्रंथों के पास जाइए। इसका उलट भी ख़ूब कहा जाता है: भारत तो बदलता ही नहीं, इस आधुनिक मुखौटे के पीछे का हिंदुस्तानी दिमाग़ अब भी वैदिक ढंग से ही सोचता है।

विद्वानों ने अक्सरहाँ भारतीय ग्रंथों(मसलन, महाभारत) का विवेचन यूँ किया है मानो वे बेतरतीब काग़ज़ों की कोई पंजिका रहे हों या बिखरे ज्ञानकोशों का जैसे-तैसे बँधा पुलिंदा। ग्रंथ (जो तालपत्रों को बाँधने वाली गाँठ से आता है) को विद्वानों ने शब्दशः लेने के बाद ग्रंथों की महज़ सांयोगिक और भौतिक एकता की ही बात की है। हमें ऐसे संदर्भ-संवेद्य डिज़ाइनों पर भी ग़ौर करना होगा जिनमें विविध अंदाज़े-बयान (क़िस्सा, प्रवचन, काव्य) व सामग्रियाँ पैबस्त हैं।

दूसरे सवाल के जवाब कुछ यूँ होंगे: सोचने का एकमात्र भारतीय तरीक़ा नहीं है; महान और लघु, प्राचीन और आधुनिक, देहाती व शहरी, शास्त्रीय व लोक परम्पराएँ ज़रूर हैं। हर ज़ुबान, जाति व इलाक़े की अपनी मख़सूस जीवन-दृष्टि है। परंतु इस ऊपरी विविधता के पीछे नज़रिये की एकता है, एक महातंत्र काम करता है। वैदिक विद्वान पूरे भारतीय मनीषा में एक वैदिक मॉडल देखते रहे हैं। नेहरू ने 'अनेकता में एकता' को एक भारतीय नारा बना दिया। साहित्य अकादमी का मूलमंत्र भी यही रहा है : 'भारतीय साहित्य एक है, भले ही इसे अनेक भाषाओं में लिखा जाता है।'

तीसरे का जवाब होगा : हिंदुस्तान में जो दिखायी देता है, वह कोई हिंदुस्तानी ख़ासियत नहीं है; यह महज़ पूर्व-औद्योगिक, पूर्व-छापाख़ाना युग के मुखामुखम समाज की खेतिहर, सामंती संरचना है। मार्क्स-फ्रॉयड- और मैक्लुहान-वादियों के लिए भारत समाजिक विकास के किसी न किसी चरण में है, और एक मिसाल से इतर कुछ भी नहीं। दूसरी तरफ़ से हिंदुस्तानियत के अनोखेपन का तर्क दिया जाएगा कि देखिए साहब इसने किस ठाठ से अपने दोस्तों-दुश्मनों सब को आत्मसात कर लिया है; भारोपीयों के साथ यही हुआ, उनकी भाषा टवर्गीकृत हो गयी,वाक्यों में सामासिकता आ गयी, उनका आत्मविश्वास हिल गया - बक़ौल नीरद चौधरी, अंग्रेज़ तो इसके हालिया उदाहरण-मात्र हैं। बौद्ध, इस्लाम, या पारसी धर्मों का क्या हुआ? कोई दुर्निवार भारतीयता तो है, जो महादेश में घुसने वाली हर चीज़ पर अपनी अमिट छाप छोड़कर उसे अपने ढंग से अनुकूलित करती है; इससे बचना मुश्किल है, और ये हम सबसे बड़ी है।

चौथे सवाल में भारतीयों की चिंतन-क्षमता पर ही सवालिया निशान है : आख़िरकार तर्क, विवेक और भौतिकता तो पश्चिमी गुण हैं; हिंदुस्तानियों का कोई दर्शन नहीं, सिर्फ़ धर्म है, कोई ज्ञान-

विज्ञान यहाँ तक कि मनोविज्ञान भी नहीं; भारत में पदार्थ चेतना का, तर्कणा भावना और अंत:प्रज्ञा का दास है। जिनमें इस बात को लेकर सहमति हो भी उनमें तर्क-वितर्क चलता रहता है कि ऐसा वाक़ई है क्या। हिंदुस्तान के ग़ैर-फ़िक्री तरीक़ों पर कुछ अफ़सोस करेंगे तो दूसरे उनका जश्न मनायेंगे। ये सिलसिला अंतहीन है। हम या कम से कम मैं – इन्हीं में से कभी ये तो कभी वो नज़रिया अख़्तियार करते रहे हैं। आज तक न ये सवाल ख़र्च हुए हैं, न उनके जवाब थमते दिखायी देते हैं।

II

इस समस्या से मेरा पहला साबक़ा 20 साल की उम्र में, अपने पिता की छवि के रूप में, पड़ा। तब तक मैंने उन्हें ग़ौर से देखा तक नहीं था। मार्क ट्वेन ने फ़रमाया है न, '17 साल की उम्र में मुझे मेरे बाप अज्ञानी लगते थे; 20 का होने पर मुझे हैरानी होने लगी कि महज़ तीन साल में उन्होंने इतना ज्ञान कैसे हासिल कर लिया'? यह लेख वाक़ई उन पर की गयी सालों की ख़्यालगोई का नतीजा है, लिहाज़ा उन्हीं को समर्पित है।

मेरे पिताजी का पहनावा उनके अंतर का बेहतरीन आईना थे। वे दक्षिण भारतीय ब्राह्मण भद्रपुरुष थे। श्री वैष्णव जाति का प्रतीक साफ़-सुथरी सफ़ेद पगड़ी बाँधते थे(पुरानी तस्वीरों में तो हीरे के कुंडल भी हैं), लेकिन साथ में टूटल की टाई, और क्रॉमेंज़ के बटन और खड़े कॉलर की कमीज़, पारम्परिक ब्राह्मण-शैली में बँधी मलमल की धोती के ऊपर अंग्रेज़ी सर्ज जैकेट डालते थे। विश्वविद्यालय जाते वक़्त वे अक्सरहाँ चरख़ाना-छाप मोजे और हमेशा अच्छे से चमकाये गये चमड़े के जूते पहनते थे, लेकिन घर के अंदरूनी हिस्सों घुसने से पहले उन्हें उतारना नहीं भूलते थे।

वे गणितज्ञ थे, और खगोलविद भी। लेकिन साथ ही संस्कृत के विद्वान और ज्योतिष में माहिर। उनसे मिलने दो क़िस्म के अजनबी आते थे: हिंदुस्तान तशरीफ़ लाने वाले अमेरिकी और अंग्रेज़ गणितज्ञ, और स्थानीय ज्योतिषी या पुरातनी पंडित, जो महाराजा द्वारा भेंट किये गये स्वर्ण-मंडित भव्य शॉल लपेटे होते थे। उन दिनों मैंने ताज़ा-ताज़ा रसेल को पढ़ा था और उनके 'वैज्ञानिक रवैये' से बेहद मुतास्सिर हुआ था। मैं (और मेरी पीढ़ी) पिताजी द्वारा एक ही खोपड़ी में खगोल और ज्योतिष विद्या को समा सकने की सलाहियत से परेशान रहता था; मैं उनके विचारों में संगति खोजता था जबकि वे ऐसी किसी संगति बिठाने से बेपरवाह दिखते थे। जब मैंने पूछा कि प्लूटो और नेप्च्यून की खोज के बाद उनके नवग्रही ज्योतिष का क्या होगा तो उन्होंने कहा, 'कुछ ज़रूरी सुधार करने पड़ेंगे, और क या!' या फिर ये पूछने पर कि वे कैसे नहा-धोकर लाल-सफ़ेद विष्णुपदी टीका लगाकर श्रद्धावनत होकर गीता-पारायण कर सकते हैं, और बाद में बर्ट्रेण्ड रसेल और यहाँ तक कि इंगरसॉल के बारे में तारीफ़ के पुल बाँध सकते हैं, वे कहते, 'गीता तो हमारी स्वच्छता का हिस्सा है। फिर, तुमको पता नहीं कि मस्तिष्क में दो हिस्से होते हैं ?'

नीचे लिखी कविता में मैंने यह बताने की कोशिश की है कि मेरे पिता और उनके दोस्त मुझे कैसे लगते थे :

> मैनहोल में पड़ा वह हवाई कलाबाज़
> सपनों के लिए खगोल विद्या,
> और दु:स्वप्नों के लिए ज्योतिषशास्त्र की सोचता;
>
> कहावतों वाला वो मोटा आदमी,
> दुर्दिनों की भाषा

जीता ख़ाने-दर-ख़ाने
पंचांग में
मन में आँकता दिन
अंधड़ों और धसकती ज़मीन के

गिनती
घड़ियों की,
मुट्ठी में भींचे चीरे को

जन्मदिन वाली कमीज़ में
उस सुराख़ की तरह
जो बना है उसकी फफूँद लगी जन्मपत्री में,

कनखियों से देखता खेल दिशाओं
और अशुभ ग्रहों के,
उसके बाघ, उसके खरहे

घूमते संस्कृत के राशि-चक्रों में,
हमेशा बदहवास
कालांशों के खेल से, और गुर्दे

उसकी तमिल चरबी में,
उसकी देह जैसे सप्तर्षि
मधु की खोज में उतरता,

और स्त्री-गंध
छिपी छोटे घुंघराले बालों
में ठीक जहाँ

(रामानुजन 1986 : 24)

III

इस तरह की विसंगति अंग्रेज़ों और 'आधुनिक' हिंदुस्तानियों, दोनों ही के लिए हैरानी और नाराज़गी की वजह रही है। तक़रीबन बीस साल पहले *इलस्ट्रेटेड वीक़ली ऑफ़ इंडिया* ने कुछ भारतीय बुद्धिजीवियों से हिंदुस्तानी चरित्र के बारे में उनकी राय पूछी। इसको चुटकियों में निबटा देने वाला काम समझकर उन्होंने निहायत चुस्त और कुछ वाक़ई तेज़-तर्रार टिप्पणियाँ लिखीं। उन सबकी

सहमति एक बात पर थी कि हिंदुस्तानियों में पाखंड प्रवृत्ति पायी जाती है। या तो उनकी मुराद वह नहीं होती जो वे कहते हैं, या अलग-अलग मौक़ों पर मुख़्तलिफ़ बातें कहते हैं। और 'हिंदुस्तानियों' से उनका आशय महज़ नौकरों से नहीं था। मैक्सम्युलर के भारत पर दिये गये भाषणों (1883) के दूसरे अन्याय का नाम 'हिंदुओं का सच्चा चरित्र' था, जो ऐसी कई शिकायतों को झुठलाने का प्रयास था।

हाल ही में मैं 'कर्म' पर आयोजित एक सम्मेलन में गया; ऐसी धारणा जिसे बहुत सारे दायरों में भारतीय या हिंदू का पर्यायवाची माना जाता है। ब्राह्मण, बौद्ध और जैन ग्रंथों में यह अवधारणा मौजूद रही है। लेकिन सैंकड़ों कन्नड़ कहानियों में मुझे एक भी ज़िक्र ऐसा न मिला जहाँ कर्म को बतौर ख़याल या प्रेरणा की अहमियत मिली हो। लेकिन मज़े की बात है कि जब उनके बच्चे गड़बड़ मचाते हैं तो उनके मुँह से दीगर गालियों के अलावा, 'हाय रे मेरे करम!' निकलता है। जब हार्पर (1959) और उसके बाद बहुत-से लोगों ने बताया कि ग्रामीण भारत के लोग पुनर्जन्म के बारे में ज़्यादा नहीं जानते तो ऐसी विसंगति के लिए जाति, शिक्षा, आदि को ज़िम्मेदार माना गया। लेकिन याद रहे कि पिछले बीस सालों जो 2000 कन्नड़ कहानियाँ इकट्ठा की हैं, उन्हें ब्राह्मणों, जैनों (दोनों ही 'कर्म' का अन्यत्र प्रचुर इस्तेमाल करते हैं) और दीगर समुदायों की सुनायी कहानियाँ थीं। इससे भी अजीब बात, शेरिल डैनियल (1983) ने स्वतंत्र शोध में पाया कि उनके तमिल गाँव में लोग कर्म और तलाइविडी (ललाट-लेख) दोनों ही का प्रयोग अपने आसपास की घटनाओं के लिए करते हैं।[1] इन दो अवधारणाओं में कोई मेल नहीं। 'कर्म' का मतलब कर्ता के अतीत से वर्तमान का निर्धारण है, यानि कार्य-कारण की ऐसी लौह श्रृंखला जिसमें जवाबदेही की नैतिकता भी पिरोयी हुई हो। तलाइविडी जन्म के वक़्त भाग्य बनकर माथे पर लिख दी जाने वाली चीज़ है; इस ललाट-लेख का इंसान के पिछले कृत्यों से कोई नाता नहीं; बल्कि ऐसी व्याख्याओं (या इनसे जुड़ी लोककथाओं) में पिछले जन्मों का कोई हिसाब-किताब नहीं रखा जाता।

मालूम होता है कि इससे जुड़ी एक और विशिष्टता पर पर्यवेक्षकों ने ज़्यादा ध्यान दिया है। जैसा कि हमने पहले अर्ज़ किया कि 'विसंगति'(मेरे पिता या ब्राह्मण/जैन कथाओं में कर्म के प्रयोग के दृष्टांतों में) अपर्याप्त तालीम या तार्किक ग़लती का नतीजा नहीं है। मुमकिन है उनका 'तर्क' ही भिन्न रहा हो। कुछ चिंतकों की राय में ऐसी तर्कणा 'सांस्कृतिक विकास' के पूर्ववर्ती चरण के लक्षण हैं, और यह भी कि भारतीयों ने 'डेटा' या 'वस्तुनिष्ठ तथ्यों' की धारणा का विकास नहीं किया है। एडवर्ड सईद के ओरिएंटलिज़म में तीसरी दुनिया के बारे में ऐसी ढेरों युरोपीय जड़- मान्यताएँ हैं। हेनरी किसिंजर की व्याख्या सुनिए:

> जो संस्कृतियाँ न्यूटनवादी सोच के शुरुआती असरात से बच गयीं, उन्होंने बुनियादी तौर पर न्यूटनवाद से पहले की यह मान्यता क़ायम रखी कि दुनिया मुकम्मल तौर पर पर्यवेक्षक के अंदर ही बसती है....(लिहाज़ा) पश्चिम की तुलना में नये (पुराने?) देशों में अनुभवपरक यथार्थ की अहमियत अलग है, क्योंकि एक मायने में वे इसकी खोज में कभी मुब्तिला ही नहीं हुए।[2]

इस दृष्टिकोण को न्यूटनवादी नज़रिये का किसिंजरीय पाठ मान कर ख़ारिज नहीं किया जा सकता। यात्रा-वृत्तांतों, मनोवैज्ञानिक लेखन व उपन्यासों में इससे आपकी मुलाक़ात होती ही रहती है। नायपॉल ने आला दर्जे के मनोविश्लेषक, और भारतीय व पाश्चात्य मामलों के जानकार सुधीर

[1] शेरिल बी. डैनियल (1983), 'द टूल बॉक्स अप्रोच ऑफ़ द तमिल टू दि इश्शू ऑफ़ मोरल रिस्पॉन्सिबिलिटी ऐंड ह्यूमन डेस्टिनी', चार्ल्स एफ़. केऽज़ और ई. वैलेंटाइन डैनियल, (सम्पा.), *कर्मा : ऐन एंथ्रोपोलॅजिकल इंक्वायरी,* युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया प्रेस, बर्कले.

[2] एडवर्ड सईद (1978), *ओरियन्टलिज़म,* पैंथन, न्यू यॉर्क : 47.

कक्कड़ को उद्धृत किया है:

> अगर तुलना पाश्चात्य रवैये से की जाए तो आम तौर पर हिंदुस्तानियों का बाह्य यथार्थ से एक अलग क़िस्म का रिश्ता पाया जाता है। भारत में ये रिश्ता बालपन के एक ख़ास चरण से मेल खाता है, जब बाहरी चीज़ों का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता, बल्कि आत्म और आत्मिक भावों से आत्मीयता रखती हुई लगती हैं....भारतीय अहम् अल्पविकसित है; जादू या जीववादी सोच के काफ़ी क़रीब होने के चलते यथार्थ पर इसकी पकड़ अपेक्षाकृत कमज़ोर है।[3]

फ़ॉस्टर के *अ पैसेज टू इंडिया* का एक यादगार और बहुचर्चित हिस्सा है, जिसमें मिसेज़ मूर भारत में भीतरी और बाहरी जगत के अंतर्संबंधों पर बड़ी सफ़ाई से ग़ौर करती हैं; दोनों के बीच गड़बड़झाला करना सिर्फ़ हिंदुस्तानी ख़ासियत नहीं है:

> वे अपना लबादा टाँगने जाती हैं तो उन्हें खूँटी की नोंक पर ततैया बैठा मिलता है। वे इस ततैये और इसके रिश्तेदारों को गानों से भली-भाँति पहचानती थीं; ये अंग्रेज़ी ततैयों से भिन्न थे, इनके लम्बे पीले पैर उड़ान के वक़्त पीछे लटक जाते थे। शायद बर्रे ने खूँटी को शाख समझ लिया था - चूँकि किसी भी हिंदुस्तानी जीव-जंतु को आंतरिकता का अहसास नहीं होता। चमगादड़, चूहे, पंछी, कीड़े-मकोड़े घर के अंदर भी उतनी सहजता से घोंसले बनाते हैं, जितनी कि बाहर, मानो उन्हें घर भी अनंत जंगल का ही कुदरती विस्तार लगता है, जिसमें बारी-बारी से पेड़, घर, पेड़, घर आते रहते हैं। जिस समय ततैया यहाँ चैन से चिपक कर सो रहा था, तभी सियारों की ख़्वाहिशों के नाले मृदंक की थाप से एकमेक हो रहे थे।[4]

ज़िमर-जैसे हमदर्दों ने भारतीयों की तारीफ़ इसलिए की क्योंकि वे आत्म और अनात्म, भीतरी और बाहरी के बीच के वस्तुनिष्ठतावादी फ़र्क़ को ज़्यादा तूल नहीं देते; जो नायपॉल के लिए 'दृष्टि-दोष' है, वही ज़िमर के लिए दृष्टि है:

> हिंदुस्तान अपने और समय के बारे में....जैविक, और जातीय मायनों में सोचता है, न कि किसी वायवीय अहम् के तौर पर....हम पश्चिमी दुनिया के लोग विश्व इतिहास को मनुष्य-मात्र की जीवनी मानते हैं, ख़ास तौर पर पाश्चात्य मनुष्य की...हमारी सदिच्छा यह नहीं होती कि मानवीय संस्थाओं में कुदरत का सार्वभौम खेल सम्पूर्णता पाये, बल्कि हम ख़ुद को प्रकृति के बरक्स एक अहम्मन्यता के साथ खड़ा करके मूल्यांकन करने के आदी हैं।[5]

'विसंगति', आत्म-अनात्म में भेद करने की ऊपरी अक्षमता में एक तीसरी ख़ासियत जोड़ी जानी चाहिए। पहले थोड़ा कांट और फिर मनु पढ़िए, तभी मनु में सार्विकता का अभाव समझा जा सकेगा। ऐसा लगता है कि मनु के पास सार्वभौम *मानवीय* प्रकृति के बारे में कोई साफ़ समझ नहीं है, जिससे 'मनुष्य को हत्या नहीं करनी चाहिए' या 'इंसान को असत्य नहीं बोलना चाहिए' जैसे सर्वव्यापी नैतिक सूत्र निकाले जा सकें। न तो किसी 'सरकार' का पता मिलता है, न किसी एकीकृत क़ानून का।

> मैक्सम्यूलर 1833 द्वारा उद्धृत मनु ,II. 267 में यह लिखा है: अगर किसी क्षत्रिय ने किसी ब्राह्मण को अपमानित किया है तो उसे एक सौ (पण) का जुर्माना; वैश्य को डेढ़ या दो सौ; शूद्र को दैहिक दंड दिया जाएगा।[6]

---

[3] वी. एस. नायपॉल (1977), *अ वूंडेड सिविलाइज़ेशन,* रैण्डम हाउस, न्यूयॉर्क : 107.

[4] एडवर्ड मॉर्गन फ़ॉस्टर (1952), *अ पैसेज टू इंडिया,* हारकोर्ट प्रेस, न्यू यॉर्क : 35.

[5] हेनरिक रॉबर्ट ज़िमर (1946), *मिथ्स ऐंड सिम्बल्स इन इंडियन आर्ट ऐंड सिविलाइज़ेशन,* पैंथन, न्यू यॉर्क : 21.

[6] फ्रेडरिक मैक्स म्यूलर (1883), *इंडिया : व्हाट कैन इट टीच अस ?,* लॉन्गमैन्स ग्रीन, लंदन.

म्यूलर के सहयोगियों ने पाया कि सच बोलना भी कोई अशर्त आवश्यकता नहीं है:

> ग़ुस्सा, आनंदातिरेक, डर, दर्द, या शोक के मारे, या फिर शिशुओं या बूढ़ों के द्वारा, या फिर भ्रम, शराब के नशे या विक्षिप्तता की हालत में बोला गया झूठ, बोलने वाले को गिरा नहीं देता, ये अपनी भाषा में कहें तो क्षमा-योग्य पाप हैं, मरणांतक पाप नहीं (गौतम, म्यूलर के शब्दों में)।[7]

अलेक्ज़ैंडर वाइल्डर ने अपने एक फ़ुटनोट में इसका पल्लवन किया है:

> मनु ने फ़रमाया कि शादी, काम-क्रीड़ा, या जीवन पर आसन्न ख़तरे या सम्पत्ति के नुक़सान की आशंका के वक़्त या फिर ब्राह्मण के लिए....जब कभी ऐसा मौक़ा हो कि किसी भी जाति के किसी मनुष्य की मौत सत्य के चलते हो रही हो, तो झूठ, सत्य से कहीं बेहतर है।[8]

अब इसकी तुलना कांट द्वारा दी गयी कर्तव्य की मशहूर परिभाषा से कीजिए: 'काम ऐसे करो गोया तुम्हारा काम तुम्हारी सदिच्छा के ज़रिये कायनात का सार्विक क़ानून बन जाने वाला हो।[9]

मैकी का खयाल है, 'नैतिक फ़ैसलों का सार्विकीकरण मुमकिन है।'[10] सार्विकीकरण यानि ख़ुद को दूसरे की जगह पर रखना – जो न्यू टेस्टामेंट का स्वर्णिम नियम भी है, और हॉब्स के 'सर्वजन क़ानून' का भी: किसी के साथ वह न करो जो तुम अपने साथ नहीं होते देखना चाहते। यहूदी/ईसाई पर परा नैतिकता की मुख्य पर परा सार्वभौमीकरण के इस तरह के आधार-वाक्य पर ही आधारित है। मनु इस तरह के आधार-वाक्य को नहीं समझेंगे। मनु के लिए नैतिक होने का अर्थ है चीज़ों का विशिष्टीकरण और यह पूछना कि किसने क्या किया, किसके साथ और कहाँ। शॉ ने यह टिप्पणी की है कि दूसरों के साथ ऐसा बरताव न करें, जो उन्होंने आपके साथ किया है। हो सकता है कि उनकी रुचि आपके जैसी न हो।[11] इस विचार को मनु के विचारों के नज़दीक माना जा सकता है। फ़र्क़ सिर्फ़ इतना है कि मनु के विचारों में 'रुचि' की जगह 'प्रकृति' ले लेगा। हर वर्ग (जाति) का अपना क़ानून होता है, उसकी अपनी समुचित नैतिकता होती है। इसका सार्वभौमीकरण करने की आवश्यकता नहीं है। इस भारतीय दृष्टिकोण के संबंध में चतुर-सुजान हेगेल ने यह लिखा है कि : ''हम यह कहते हैं कि 'बहादुरी एक सद्‌गुण है।' इसके विपरीत, हिंदू यह कहते हैं कि 'बहादुरी क्षत्रियों का एक सद्‌गुण है।' ''[12]

इस विशिष्टतावाद में कोई व्यवस्था है क्या? ऐसा लगता है कि भारतीय दार्शनिक हेगेल या कांट की तरह 'सर्वव्यापी' व्यवस्थाएँ नहीं देते। शेरिल डैनियल का मानना है कि हिंदुस्तानी विचारों का एक 'औज़ार बक्स' लेकर चलते हैं, जिसमें से वे आवश्यकतानुसार अपने काम की चीज़ इस्तेमाल करते हैं और तर्क की परवाह नहीं करते; लेवि-स्त्रॉस के अनुसार उनके इस जुगाड़ में हर तरह की चीज़ चल जाती है।[13] मैक्स वेबर ने अपनी विवध कृतियों में 'पारम्परिक' और 'तार्किक' धर्मों में फ़र्क़ किया है। गीयर्ट्ज़ ने इस फ़र्क़ का आलातरीन ख़ुलासा पेश किया है:

---

[7] वही : 70.

[8] वही : 89.

[9] फ्रेडरिक चार्ल्स कॉपलेस्टॉन (1946), *अ हिस्ट्री ऑफ़ फ़िलॉसफ़ी,* वॉल्यूम 6, बर्न्स, ओट्स ऐंड वॉशबोर्न, लंदन : 116.

[10] जॉन लेस्ली मैकी (1977), *एथिक्स: इन्वेंटिंग राइट ऐंड रॉन्ग, पेंगुइन बुक्स,* हार्मन्ड्सवर्थ : 83.

[11] वही : 89.

[12] जॉर्ज वेलहेम फ्रेडरिक हेगेल (लगभग 1827), *लेक्चर्स ऑन फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ हिस्ट्री,* भाग -1, खण्ड 2 'इंडिया'.

[13] क्लॉद लेवि-स्त्रॉस (1962), *द सैवेज माइंड,* युनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस, शिकागो : 16-36.

हर नये मसले के पैदा होने पर पारंपरिक धर्म उनका हल मौक़ापरस्त तरीक़े से ढूँढ़ते हैं...अपने जादू-टोने के झाड़-झंखाड़ से पटे अस्त्रागार से वे प्रतीकात्मक तौर पर उपयुक्त हथियार निकाल लाते हैं....उनका चयन...विशिष्ट और अनियमित होता है। 'तार्किक' धर्म...अपनी बात अपेक्षाकृत ज़्यादा अमूर्त, सुविचारित, सुसंगत, और समान्य शब्दावली में पेश करता है।...सवाल अब ये नहीं है....कि ईवांस प्रिचर्ड की शास्त्रीय मिसाल के ज़रिये ही पूछें तो, 'ये अन्नागार मेरे भाई पर ही क्यों गिरा... ?' बल्कि ये कि अच्छे लोग कम उम्र में ही क्यों उठ जाते हैं, जबकि बुरे वनबेल की तरह फलते-फूलते रहते हैं ?'[14]

IV

आइए, अब थोड़ी साँस लें और एक सूत्रीकरण आज़माएँ। वैयाकरण हर चीज़ में व्याकरण ही देखता है; मैं भी अपनी कमज़ोरी का फ़ायदा उठाते हुए भाषाविज्ञान से एक बात उठाकर देखूँ कि बनती है या नहीं।

व्याकरण के नियम दो तरह के होते हैं(या होते थे): संदर्भ-मुक्त और संदर्भ-संवेद्य। पहले नियम की मिसाल है कि 'वाक्यों में उद्देश्य और विधेय में परस्पर संबंध होना चाहिए'।[15] अंग्रेज़ी में बहुवचन बनाने के लिए शब्दांतिक में 'एस' लगाते हैं(डॉग्स, कैट्स), घर्षणात्मक शब्दों में 'इएस'(लैचेज), या 'आरइएन' (जैसे कि चिल्ड्रेन) यह संदर्भ-संवेद्यता के नियम की मिसाल है। ज़्यादातर ज़बानों के नियम दूसरी क़िस्म के होते हैं।

मुझे ऐसा लगता है कि संस्कृतियों में कुल-मिलाकर कुछ ख़ास तरह की प्रवृत्तियाँ होती हैं (इसके पीछे कुछ ख़ास तरह के पेचीदा कारण हो सकते हैं)। इनमें *आदर्शीकृत* करने की प्रवृत्ति होती है। ये या तो संदर्भ-मुक्त या संदर्भ-संवेद्य नियमों के आधार पर ही सोचते हैं। यह सच है कि ये जिन नियमों के बारे में सोचते हैं, वे उनके व्यवहार का मार्गदर्शन करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं, लेकिन फिर भी वास्तविक व्यवहार ज़्यादा पेचीदा हो सकता है। भारत जैसी संस्कृतियों में संदर्भ-संवेद्य नियमों को वरीयता देने लायक़ सूत्रीकरण माना जाता है। मनु (मैंने पहले ही उनके एक क़ानून का उल्लेख किया है) स्पष्ट रूप से यह कहते हैं: 'एक पवित्र क़ानून को जानने वाले (राजा) को निश्चित रूप से जाति, ज़िला, व्यापारिक संघ और परिवार के क़ानूनों की कल्पना करनी चाहिए। इस तरह, उसे हर दायरे के लिए विशिष्ट क़ानून तय करने चाहिए।'[16]

बौधायन ने धर्म की संदर्भ-संवेद्य प्रकृति की ज्ञानवर्धक विवेचना की है। साथ ही उन्होंने उत्तर और दक्षिण दोनों ही जगह के ब्राह्मणों द्वारा अपनायी गयी बेलीक प्रथाओं की तफ़सील पेश की है:

> दक्षिण और उत्तर के बीच पाँच बिंदुओं पर अंतर है। हम दक्षिण की प्रथाओं का वर्णन करेंगे: ब्राह्मणवादी संस्कार न पाने वाले व्यक्ति के साथ भोजन करना, अपनी पत्नी के साथ भोजन करना, पिछले दिन बना हुआ खाना खाना, मामा या बुआ की बेटी से शादी करना। उत्तर में इस तरह की प्रथाएँ इस प्रकार हैं: ऊन बेचना, सुरा पीना, दांतों की दो श्रेणी वाले जानवरों का व्यवसाय करना, हथियार का पेशा अपनाना और समुद्र-यात्रा करना।

---

[14] क्लिफ़र्ड गीयर्ट्ज़ (1973), *द इंटरप्रेटेशन ऑफ़ कल्चर,* बेसिक बुक्स, न्यूयॉर्क : 172.

[15] जॉन ल्योन्स (1971), *इंट्रोडक्शन टू थियोरेटिकल लिंगविस्टिक्स,* केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज : 235-41.

[16] मनु (1886). द *लॉज़ ऑफ़ मनु* (अनुवाद जॉर्ज ब्यूहलर). सेक्रेड बुक्स ऑफ़ दि ईस्ट, खण्ड 25, क्लैरेण्डन प्रेस, ऑक्सफ़र्ड : 7.41.

इन बेहतरीन जातिशास्त्रीय विवरणों के बाद वे बताते हैं कि ये रीति-रिवाज दरअसल श्रुति या स्मृति में उपलब्ध मान्यताओं के विपरीत हैं, लेकिन ये शिष्ट, ज्ञानी लोग हैं, अपनी परम्पराओं को बख़ूबी जानते हैं, और ज़िले के ख़ास आचार-व्यवहार का पालन करने का दोष इनके मत्थे नहीं मढ़ा जा सकता। दक्षिण में उत्तर की प्रथाओं को ग़लत माना जाता है, और उत्तर में दक्षिणी प्रथाओं को।[17] सही और ग़लत व्यवहार के इस नज़रिये में आश्रम-धर्म (जीवन के चरण के मुताबिक़ आचरण), स्वधर्म (जाति, धर्म या स्वभाव के अनुसार आचरण), और आपद-धर्म (संकट या आफ़त की घड़ी का आचरण, मसलन, विश्वामित्र द्वारा भूख से जान बचाने के लिए कुत्ते का मांस खाया जाना) की नैतिक मान्यताएँ जोड़ दीजिए। पायेंगे कि हर योग अंततः किसी तरह के सार्विक या निरपेक्ष नियम-क़ानून से घटाव की क्रिया ठहरती है। इस तरह ग्रंथों में वर्णित सामान्य या साधारण धर्म - जिसमें अपवाद पहले नहीं, आख़िरी उपाय के रूप में शामिल हैं - का क्या शेष रह जाता है ? ग्रंथ गोया कह रहे हों, अगर तुम किसी संदर्भ या दशा में फ़िट नहीं हो रहे, जो निहायत असम्भाव्य है, तो सार्विक की शरण में जाओ।

मुझे मूल्यों पर कोई ऐसी हिंदू विवेचना नहीं मालूम है जो प्लेटो के *सिम्पोज़ियम* में प्रस्तुत सुंदरता के पाठ से मेल खाती हो। *सिम्पोज़ियम* अपने शिशिक्षु से कहता है कि किसी ख़ास दैहिक सौंदर्य में मत फँसो, बल्कि शारीरिक से आगे नैतिक मूल्यों की ओर बढ़ो, क़ानून और लोकाचार के सौंदर्य, ज्ञान-विज्ञान के सौंदर्य की ओर बढ़ो ताकि तुम 'विशिष्ट मिसाल की दासता' से आज़ाद हो सको। (इससे प्रति-उदाहरणों को मैंने बाद के लिए सहेज रखा है।)

या फिर भारतीय साहित्यिक ग्रंथों को लें। उन्नीसवीं सदी तक बिना किसी संदर्भ या साँचे के कोई भी भारतीय ग्रंथ प्रकाशित नहीं हुआ। कृतियाँ फलश्रुति पद्यों से शुरू होती हैं। ये पद्य पाठक, वाचक या श्रोता को यह बताते हैं कि उनके पढ़ने, गाने या सुनने का नतीजा कितना अच्छा होगा। ये ग्रंथ चाहे कितने भी पुराने हों, ख़ुद को वर्तमान पाठक से जोड़ लेते हैं अर्थात् ये उसे संदर्भित करते हैं। नाड़ीशास्त्र इसका एक अतिरेकी उदाहरण है। यह आपको आपका व्यक्तिगत इतिहास बताता है। मेरे एक दोस्त ने अपने, अपने इतिहास और भविष्य के बारे में कुछ विशेषज्ञों से सलाह-मशविरा किया। इस तरह के मशविरे के लिए उसे विशेषज्ञों को बहुत ज़्यादा पैसा भी देना पड़ा। लेन-देन हो जाने के बाद विशेषज्ञों ने ताड़ की पत्तियों पर लिखी पांडुलिपि निकाली। इसमें पुरातन छंदों में उसके नाम, उम्र, जन्म-स्थान आदि का उल्लेख किया गया था...और फिर उन्होंने अचानक ही यह कहा कि 'इस समय श्रोता पालथी मारकर बैठे हैं, उन्हें अपने पैर खोलकर बैठना चाहिए।'

इसलिए मुझे लगता है कि संदर्भ पर इतना व्यापक ज़ोर देने के पीछे हिंदुओं के जातिपरक सरोकार रहे हैं— जाति यानि कोटियों और प्रजातियों में वर्गीकरण का तर्क, जिसके तहत इंसान भी एक जाति की मिसाल-मात्र है। मौसम, भदृश्य, समय, गुणधर्म (जिसमें उनका भौतिक आधार शामिल है), आस्वाद, किरदार, एहसासात, रस, आदि के तमाम वर्गीकरण हिंदू चिकित्साशास्त्र और काव्य, रसोई और धर्म, कामकला और जादू-टोने के चिंतन व कर्म के आधार हैं। करणीय-अकरणीय के लिए हर जाति या वर्ग एक संदर्भ, प्रासंगिकता का एक ढाँचा, स्वीकार्य संयोजनों का एक नियम, और ज़िक्र की एक रूपरेखा परिभाषित करता है— ग़रज़ कि सम्प्रेषण का एक महाशास्त्र रचता है।

[17] रॉबर्ट लिंगट (1973), द *क्लासिकल लॉ ऑफ़ इंडिया* (अनुवादः डी. एम. डेरिट), युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया प्रेस, बर्कले : 196.

यह मुमकिन है कि ये ग्रंथ ऐतिहासिक रूप से बिना किसी तिथि या लेखक के नाम के हों। लेकिन उनके संदर्भ, उपयोग और प्रभाव पूरी तरह स्पष्ट होते हैं। रामायण और महाभारत की शुरुआत ऐसी घटनाओं से होती है जो आपको यह बताती हैं कि किन परिस्थितियों में इन ग्रंथों की रचना की गयी। इस तरह की हर कथा एक महाकथा के भीतर होती है। और ग्रंथ के भीतर एक कहानी इसके भीतर की दूसरी कहानी के संदर्भ का काम करती है। इसमें रूपरेखा पेश करने का काम करने वाली बाहरी कहानी अंदर की उप-कहानियों को प्रेरित करती है। आंतरिक कहानी बाहरी कहानियों को रोशन करती है। यह अमूमन पूरे ग्रंथ के सूक्ष्म प्रतिरूप का काम करती है। जब पांडव जंगल में निर्वासित जीवन जी रहे होते हैं तो युधिष्ठिर गहरी हताशा में डूबे दिखते हैं। वे जुए में अपना राज्य हार चुके हैं और अब निर्वासित जीवन जी रहे हैं। उनकी निराशा के क्षणों में उनसे एक साधु मिलता है और उन्हें नल की कहानी सुनाता है। कहानी में यह बात सामने आती है कि नल भी जुए में अपना पूरा राज्य और अपनी पत्नी हार चुका था। इसके बाद उसे भी निर्वासित होकर जंगल में दर-दर की ठोकरें खानी पड़ी। लेकिन आख़िरकार नल अपने भाई को हरा कर अपना राज्य फिर से हासिल करता है और उसकी पत्नी भी उसे फिर से मिल जाती है। नल की पूरी कहानी सुनने के बाद युधिष्ठिर को यह अहसास होता है कि अभी उन्होंने अपनी आधी यात्रा ही पूरी की है। अब वे अपने वर्तमान को एक ख़ास नज़रिये से देखते हैं और उन्हें यह भरोसा हो जाता है कि उनकी अपनी कहानी अभी ख़त्म नहीं हुई है। कई मरतबा लोग अलग से सिर्फ़ नल की ही कहानी पढ़ते हैं। लेकिन आंशिक रूप से, इस कहानी का गहरा महत्त्व महाभारत की रूपरेखा के भीतर ही है। पूरे महाभारत को पढ़ने वाला या इसकी कहानी सुनने वाला व्यक्ति ही ज़्यादा बेहतर तरीक़े से इसके अर्थ समझ सकता है। यह भीतरी कहानी संदर्भ-संवेद्य है और यह बाहरी कहानी से अपना अर्थ ग्रहण करती है और उसे ज़्यादा अर्थवान बनाती है।

विद्वानों ने अक्सरहाँ भारतीय ग्रंथों(मसलन, महाभारत) का विवेचन यूँ किया है मानो वे बेतरतीब काग़ज़ों की कोई पंजिका रहे हों या बिखरे ज्ञानकोशों का जैसे-तैसे बँधा पुलिंदा। ग्रंथ (जो तालपत्रों को बाँधने वाली गाँठ से आता है) को विद्वानों ने शब्दश: लेने के बाद ग्रंथों की महज़ सांयोगिक और भौतिक एकता की ही बात की है। हमें ऐसे संदर्भ-संवेद्य डिज़ाइनों पर भी ग़ौर करना होगा जिनमें विविध अंदाज़े-बयान (क़िस्सा, प्रवचन, काव्य) व सामग्रियाँ पैबस्त हैं। ग्रंथ-रचना का यह विधान संस्कृति में उपलब्ध दीगर डिज़ाइनों के अनुरूप है। यहाँ लक्ष्य अरस्तूवादी एकता न होकर संगति रहा है।

तमिल (और संस्कृत) गीत नाटकीय एकालाप होते हैं; इनमें एक संपूर्ण 'संप्रेषण डायग्राम' का बोध होता है: किसने किससे, क्या, कब और क्यों कहा, और कहते समय किसी और ने सुना, तो इसका ज़िक्र भी आता है। नीचे इसकी एक मिसाल है:[18]
उसकी रखैल ने उसके बारे में क्या कहा (जब उसे यह पता चला कि उसकी पत्नी ने उसके बारे में घटिया बातें कही हैं और इस समय उसकी पत्नी की दोस्त इतनी नज़दीक थी कि वह उसकी बात सुन सके)

> तुम्हें मालूम है वह आता है
> जहाँ पोखरों की रोहू मछलियाँ

[18] यह कविता कुरुंतोकाई द्वारा लिखी गई है। देखें, ए. के. रामानुजन (अनुवाद) (1967), *दि इंटिरियर लैण्डस्केप : लव पोएम्स फ्रॉम ए क्लासिकल तमिल एंथॉलजी,* इंडियाना यूनिवर्सिटी प्रेस, ब्लूमिंगटन : 22.

अपने जबड़ों से लपकती हैं
पक कर, गिरते आमों को
खेतों के किनारे खड़े पेड़ों से।

हमारे ठौर
उसने बड़ी-बड़ी बातें की।

वापस अपने यहाँ
जब दूसरे उठाते अपने हाथ
और पैर
वह भी अपने वैसे ही उठाता :

किसी गुड़िया के मानिंद
आईने में

पानी फेर देता है वह
हर आख़िरी इच्छा पर।
उसके बेटे की प्यारी माँ की जो रही आईं।

कोलोफ़ोन विवरणों से इस कविता का निम्नांकित साँचा बनता है:
विधा: अकम, प्रेम काव्य, 'आंतरिक'
भू-दृश्य: खेतिहर, जिसमें जलाशय, साफ़ पानी की मछलियाँ, और आम के पेड़ हैं
भाव: बेवफ़ाई, उदासी, प्रेमियों का झगड़ा

इस तरह के काव्य में कविता भूदृश्य, जीव-जंतु-पौधों और भावनाओं के वर्गीकरण पर मुनहसर होती है।[19] एक ऐसी पारिस्थितिकी जिसके अंतर्गत इंसान और उसके अहसासात भी समाये हुए हैं। बाह्य भूदृश्य के वर्णन का मतलब ही है आंतरिक भूदृश्य का चित्रण। इंसान के पास जो है, वह वही है: जिस भूदृश्य का वह मालिक है, जिसमें वह वास करता है (जिसमें शार्क को आम के लिए कोई मेहनत नहीं करनी पड़ती, आम अनायास उसके मुँह में टपक पड़ता है), वही उसकी प्रति-प्रस्तुति करता है: आख़िर वह जिस सम्पत्ति का मालिक है, वही उसका गुण भी तो है। बर्क के शब्दों में दृश्य और कर्ता एक ही हैं; एक-दूसरे की लक्षणा हैं।

यह कविता रूपक का प्रयोग नहीं करती है। इंसानी कर्ताओं को दृश्यों में बस डाल दिया गया है। तुलना के दो हिस्से (इंसान और शार्क) एक ही दृश्य, एक ही भाषिक पद के दो हिस्से हैं; अलहदा अस्तित्व के स्वामी होने के बावजूद ये एक-दूसरे का अनुकरण करते हैं। तमिलों में इस तरह के किरदार के लिए 'उल्लूरै' या आत्मालाप का लफ़्ज़ चलता है; इसे हम दृश्य के भीतर का

[19] विस्तार के लिए देखें ए. के. रामानुजन (अनुवाद) (1967) : 22.

'अंतर्दृश्य'(इनसेट) या 'आंतरिक भूदृश्यावली'(इन्स्केप) कह सकते हैं। प्रकृति में इंसान, यानि संदर्भित मनुष्य, के इस नज़रिये में मनुष्य अपने संदर्भ की निरंतरता में है। पियर्सियन संकेत-शास्त्र के मुताबिक़ ये प्रतीकात्मक उपादान नहीं हैं, बल्कि समानधर्मा संकेत हैं – यहाँ संकेतक और संकेतित दोनों एक ही संदर्भ से उद्भूत हैं।[20]

इस दृष्टिकोण से कोई यह कह सकता है कि हिंदू कर्मकांड (मसलन वैदिक बलिदान या राज्याभिषेक[21]) *प्रतीकों* को, मनमाने संकेतों (मसलन, बलिदान के घोड़े) को आइकॉन या प्रतिमा में बदलता है, जहाँ महत्त्व बताने वाला (अर्थात् घोड़ा) उस चीज़ की तरह हो जाता है जिसका महत्त्व बताया जा रहा है (अर्थात् ब्रह्मांड) और अंत में यह इसे संकेत-चिन्ह (या इंडेक्सेस) में बदल देता है, जहाँ महत्त्व बताने वाला जिस चीज़ का महत्त्व बताता है, उसी का *भाग* बन जाता है। घोड़ा ब्राह्मण है और यह प्रजापति के रूप में है। इसलिए इसका बलिदान देना या भोजन के रूप में इसे खाना, ब्राह्मण के बलिदान करने और उसे भोजन के रूप में ग्रहण करने की तरह होगा (देखें *बृहदारण्यक,* पहला अध्याय, पहला ब्राह्मण में घोड़े से संबंधित परिच्छेद)।

तमिल कविता या उपनिषद के परिच्छेद में (मसलन घोड़े के उदाहरण में)– कहीं भी लेवी-स्ट्रॉस द्वारा किये गये प्रकृति-संस्कृति के बीच विरोध का कोई मतलब नहीं निकलता है। हम यह देखते हैं कि ख़ुद विरोध ही संस्कृति से बँधा हुआ है। संस्कृति बनाम प्रकृति दृष्टिकोण का एक अन्य विकल्प भी है: तमिल कविताओं में संस्कृति प्रकृति के घेरे में है, संस्कृति में प्रकृति का फिर से एक रूप तैयार किया जाता है। इसलिए हम इनमें कोई अंतर नहीं बता सकते हैं। हमारे यहाँ प्रकृति-संस्कृति की निरंतरता में इन पदों को ख़ारिज और गड्डमड्ड किया जाता है, भले ही हमने शुरुआत उनको अलग मानकर की हो।

इस तरह के धारक-धारण करने वाले संबंधों को बहुत सारी अवधारणाओं और छवियों में देखा जाता है। अर्थात् इन्हें सिर्फ़ संस्कृति-प्रकृति के संबंधों में ही नहीं, बल्कि ईश्वर-दुनिया, राजा-राज्य, भक्त-भगवान, माँ-बच्चा या बच्ची के संबंधों में भी देखा जाता है। नीचे एक *भक्ति* कविता दी गयी है जिसमें ऐसे बहुत सारे पहलू एक के भीतर एक समावेशित है[22]:

मेरा साँवरा
  खड़ा वहाँ जैसे कुछ भी न बदला हो,
सकल धारण किये
अपने उदर में
तीनों लोक
देवतागण
और भले राजा सब
  जो धारे खड़े अपनी-अपनी धरती
  ज्यों एक माँ करती

---

[20] चार्ल्स सैंटियागो सैण्डर्स पियर्स (1931–58), *कलेक्टेड पेपर्स,* 7 खंड, हार्वर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज एमए : 58.

[21] इस संदर्भ में देखें रॉनल्ड बी. इंडेन (1978). रिचुअल अथॉरिटी ऐंड साइक्लिक टाइम इन हिंदू किंगशिप. जॉन एफ़. रिचर्ड्स, (सम्पा.), *किंगशिप ऐंड अथॉरिटी इन साउथ एशिया,* पब्लिकेशन सीरीज़, पब्लिकेशन नंबर 3. साउथ एशियन स्टडीज़, युनिवर्सिटी ऑफ़ विस्कॉन्सि, मैडिसन.

[22] यह कविता नम्मालवार द्वारा लिखी गयी है। रामानुजन ने अपनी किताब में इसका उद्धरण दिया है। ए.के. रामानुजन (1980), *हिम्स फॉर द ड्रूनिंग,* प्रिंस्टन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंस्टन.

25_ramanujan.indd 458 21-02-2013 15:27:41

अपने गर्भ में बच्चों को–
और मैं उसकी ही इजाज़त से,
समो लेता पूरा उसे
और उसे रख रखा है मैंने अपने पेट में
आगे गुज़र के लिए।

महाभारत के नल की कहानी की तरह बर्तन में जो भी है वह बर्तन का प्रतिबिंब है; सूक्ष्म जगत अंदर भी है और बाह्य जगत जैसा भी, और विडम्बना ये कि उसे अपने में समाए हुए भी है। भारतीय संकल्पनाओं में ऐसे ही संकेन्द्रित आवरणों के घोंसले मिलते हैं: 'केंचुल', 'खोल' या 'कोश' या फिर नाना तरह के देह या काया के ख़याल मिसाल के तौर पर दिये जा सकते हैं। इस तरह के भाव इतने प्रबल और गतिशील हैं कि विश्लेषक भी इन्हीं तौर-तरीक़ों से सोचते पाये गये हैं: इसकी मिसाल ड्यूमों द्वारा दी गयी पदानुक्रम की अवधारणा है,[23] जिसके तहत हर उच्च श्रेणी की जाति में उसके पहले की जातियाँ शुमार मानी जाती हैं: क्षत्रिय वैश्य से भिन्न होते हुए भी उसको ख़ुद में अंतर्भुक्त मानता है, ठीक वैसे ही जैसे कि ब्राह्मण में क्षत्रिय शामिल है। भारत की धर्म-अर्थ-काम जैसी अनेक सूचियाँ इसी तरह का अनुक्रमिक तौर पर समावेशी दायरा बनाती दिखती हैं। (मोक्ष के अपवाद पर चर्चा आगे है।)

भारत में यहाँ तक कि समय और स्थान के सार्विक संदर्भ और कांट की अनिवार्यताएँ भी यकसाँ या तटस्थ नहीं है, बल्कि अपने ख़ास गुण, अपनी भिन्न गहनताएँ हैं, जिनका उनमें वास करने वालों पर असर होता है। गाँव में लोगों के लिए फ़सल पैदा करनेवाली ज़मीन उनके चरित्र को भी प्रभावित करती है, उन्हें झूठा बना सकती हैं; घरों (जो बर्तन की ज़बर्दस्त मिसाल हैं) का अपना मिज़ाज और चरित्र होता है, जो गृहस्थ का भाग्य या मिज़ाज बदलने की क्षमता रखते हैं।[24] घरों का भी अपना मूड और चरित्र होता है। वे इनमें रहने वाले लोगों की क़िस्मत और मूड को बदल सकते हैं। इसी तरह, समय भी एक जैसी इकाइयों के रूप में सामने नहीं आता है। किसी दिन के कुछ ख़ास घंटे, एक हफ़्ते के कुछ ख़ास दिनों आदि को शुभ या अशुभ (राहुकाल) माना जाता है। समय (युग) की एक ख़ास इकाई, मसलन कलयुग, कुछ ख़ास तरह के विकारों, राजनीति और धर्म को जन्म देती है। इस संदर्भ में यह कहानी प्रसिद्ध है कि दो व्यक्ति एक आपसी मसला लेकर युधिष्ठिर के पास आये। एक व्यक्ति ने दूसरे व्यक्ति से ज़मीन खरीदी थी। ज़मीन ख़रीदने के थोड़े ही समय बाद उसे उस ज़मीन के भीतर सोने का एक घड़ा मिला। यह व्यक्ति यह चाहता था कि वह सोने का यह घड़ा ज़मीन के पुराने मालिक को वापस कर दे। लेकिन दूसरा व्यक्ति यह दलील दे रहा था कि अब ज़मीन का यह नया मालिक ही सोने के इस घड़े का भी मालिक है। वे अपने इस विवाद को सुलझाने के लिए युधिष्ठिर के पास आये थे। उसी समय (ज़्यादा विनम्र भाषा में कहें तो) किसी ने युधिष्ठिर को कुछ समय के लिए बुला लिया। जब वे फिर से वापस लौटे तो इन्हीं दोनों व्यक्तियों में जोरदार लड़ाई हो रही थी। लेकिन अब दोनों ही यह दावा कर रहे थे कि जो सोने का घड़ा मिला है, वह उसका है। यकायक युधिष्ठिर को यह अहसास हुआ कि युग बदल गया है और कलयुग की शुरूआत हो गयी है।

[23] लुईस ड्युमों, (1970), *होमो हायरार्किकस : द कास्ट सिस्टम ऐंड इट्स इंप्लीकेशन्स* (अनुवाद: मार्क सेंसबरी), युनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस, शिकागो : खण्ड 31, 34, 106,118 : अपेंडिक्स ई, एफ़.

[24] मसलन, १९८४ में प्रकाशित डैनियल की किताब में यह दिखाया गया है कि वह उन्हें झूठा बना देती है। देखें, ई. वैलेन्टाइन डैनियल (1984), *फ़्लूइड साइन्स : बीईंग अ पर्सन द तमिल वे.* युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया प्रेस, बर्कले.

हर घंटे, महीने, मौसम, साल और युग की संदर्भ के अनुसार अपनी विशेषता होती है। इसी तरह, जो कला समय पर निर्भर होती है, उसे समय के बदलने के भावों और विशेषताओं का पालन करना होता है। मसलन, उत्तर और दक्षिण भारत– दोनों ही जगहों पर शास्त्रीय संगीत के विभिन्न रागों के समुचित समय को पहले से ही तय किया गया है। तमिल कविताओं की तरह इनकी शैली और भाव, स्थान, समय और मौसम से बँधे हुए हैं। यहाँ तक कि वाद्य यंत्रों के भी अपने जातिगत गुण होते हैं। मसलन, वीणा का स्थान भगवान की मूर्ति से कम नहीं है। इसका निर्माण एक निश्चित जाति या परिवार के लोग ही कर सकते हैं। इन लोगों को भी इसके लिए कुछ ख़ास व्रतों का पालन करना होता है और वे किसी पवित्र दिन ही इस काम को कर सकते हैं। इसे जिस तु बा से बनाया जाता है, उसे भी कुछ ख़ास स्थानों से ही लिया जा सकता है। इनके गुण वाद्य यंत्र या संगीत की गुणवत्ता को प्रभावित करते हैं।

चिकित्सा के क्षेत्र में भी इसी तरह की संदर्भ की संवेदनशीलता दिखायी जाती है। जड़ी–बूटियों की दवा तैयार करने में, जाँच करने में और उपचार के तरीक़े में इस तरह की संवेदनशीलता सामने आती है। चूंकि इस संदर्भ में ज़िमरमैन का काम (1980) बहुत ही प्रभावशाली है,[25] इसलिए मैं इस बारे में बहुत संक्षेप में अपनी बात कहूँगा। ऋतुसात्म्य या समौचित्य की अवधरणा कविता, संगीत, बलिदान करने के कर्मकांड के साथ–ही–साथ चिकित्सा पर भी लागू होती है। रेनॉ के अनुसार, ऋतु का अर्थ 'मौसम' होता है।[26] इसका अर्थ समय की अभिव्यक्ति भी है। यह वैदिक बलिदान में भी बहुत ही महत्वपूर्ण समय होता है। *ऋत* ('व्यवस्था'– धर्म के पीछे की मूल अवधारणा) वह चीज़ है जिसे अभिव्यक्त किया जाता है। *क्रतु* बलिदान घटनाओं, कार्यों, समय और स्थान का एक बिंदु की ओर जाना है। ऋतुसात्म्य (समौचित्य), *रस* (सत्व, ख़ुशबू और स्वाद), *दोष*– (कमियाँ) और भू–दृश्यों की शब्दावली– चिकित्सा शास्त्र और कविता– दोनों में एक ही है। ये दोनों ही लोगों को उनके संदर्भ में समझने और सुधारने की कलाएँ हैं।

इस तरह स्थान, समय और जाति–जैसी तमाम ग़ैर–भौतिक चीज़ें भी दीगर चीज़ों को प्रभावित करती हैं, क्योंकि हर चीज़ ठोस या धातु है। एकमात्र अंतर यह है कि कुछ चीज़ें सूक्ष्म हैं जबकि अन्य स्थूल। हिंदुस्तानियों के बारे में अमूमन कहा जाता है कि वे आध्यात्मिक होते हैं, जबकि हक़ीक़तन वे 'भौतिकतावादी मिज़ाज' के होते हैं, और ठोस चीज़ों में यक़ीन करते हैं।[27] खाने, साँस लेने, सेक्स करने, इंद्रियानुभूति, समझ, चिंतन, कला, या धार्मिक तजुर्बों में संदर्भ से वस्तु, ख़ुदी से ग़ैर–ख़ुदी की ओर एक सतत प्रवाह, एक निरंतरता (संसार की व्युत्पत्ति भी तो यही है) देखी जा सकती है। इस लेख के पहले के हिस्सों में जिन रूढ़ छवियों का ज़िक्र आया उनमें सत्य के इसी अंश की झाँकी मिलती है। ज़िमरमैन का ख़याल है कि हिंदुस्तानी चिकित्साशास्त्र में देह को मुख़्तलिफ़ तत्वों का संगम माना जाता है; यहाँ शारीरिकी चलती है न कि शरीर–रचना विज्ञान।[28]

---

[25] फ्रैंसिस बी. ज़िमरमैन (1980), 'ऋतु–सात्म्य: द सीज़नल साइकिल ऐंड द प्रिंसिपल ऑफ़ एप्रोप्रिएटनेस', *सोशल साइंस ऐंड मेडिसीन,* खंड–14 बी.

[26] लुई रेनो (1950क), 'उन थेमे लितरेयर ऑन संस्कृत', संकलित, लुई रेनो, *संस्कृत एत कल्चर,* पेयो, पेरिस; (1950ख), वेदिक ऋतु. *अर्काइव ओरियंतालिनी,* खंड 18.

[27] मैक्किम, मैरिअट (1976), 'हिंदू ट्राँज़ैक्शन्स: डायवर्सिटी विदाउट ड्यूअलिज़म', ब्रूस कैफ़रर (सं.), *ट्राँज़ैक्शन्स ऐंड मीनिंग: डायरेक्शंस इन दि एंथ्रोपॉलजी ऑफ़ एक्सजेंज़ ऐंड सिम्बॉलिक बिहेवियर,* इंस्टीट्यूट फ़ॉर द स्टडी ऑफ़ ह्यूमन इश्शूज़, फ़िलाडेल्फ़िया; (1980). 'द ओपन हिंदू पर्सन्स ऐंड इंटरपर्सनल फ़्लूइडिटी', पेपर प्रेज़ेण्टेड ऐट दि ऐनुअल मीटिंग ऑफ़ एसोसिएशन फ़ॉर एशियन स्टडीज़. वॉशिंगटन डीसी.

[28] फ्रैंसिस बी. ज़िमरमैन (1979), 'रिमार्क्स ऑन बॉडी इन आयुर्वेदिक मेडिसीन'. *साउथ एशियन डाइजेस्ट ऑफ़ रीजनल राइटिंग्स,* खंड 18.

किसिंजर और अन्य लोग इसलिए ग़लत हैं कि वे यह नहीं देख पाते हैं कि इस दृष्टिकोण का न्यूटनवादी क्रांति, शिक्षा, या अमूर्त्त चिंतन की (अ)समर्थता से कोई लेना-देना नहीं है। रिचर्ड श्वेडर जैसे संज्ञानात्मक मानवशास्त्री ने बहुत ज़्यादा बुद्धिमान उड़िया और अमेरीकी वयस्क लोगों द्वारा इस्तेमाल किये जाने वाले वर्णनात्मक कथनों का अध्ययन किया।[29] अपने अध्ययन द्वारा उन्होंने यह दिखाया है कि वे लोगों का बहुत ही अलग-अलग तरीक़े से वर्णन करते हैं। अमेरीकी लोगों ने अपने-आपको 'अच्छा' या 'भला' जैसे शब्दों से परिचित कराया। दूसरी ओर, ओड़िया लोग ठोस संदर्भयुक्त वर्णनों पर ध्यान केंद्रित करते हैं। मसलन, वे किसी व्यक्ति का वर्णन करते वक़्त *वह मिठाई लेकर आया,* आदि के बारे में भी बताते हैं। मनोविश्लेषक *ऐलन रॉलैण्ड* यह मानते हैं कि हिंदुस्तानी जहाँ भी जाते हैं, वे अपने परिवार की पृष्ठभूमि को साथ लेकर चलते हैं। वे हमेशा ख़ुद को अपने परिवार से जुड़ा हुआ महसूस करते हैं। उनके भीतर एक पारिवारिक आत्म होता है— 'एकात्मक हम की अवधारणा।' यहाँ आधुनिक अमेरीकी परिवार की तरह किसी व्यक्ति के जीवन में माता-पिता के परिवार से पृथकता या वैयक्तीकरण का चरण नहीं आता है। इसलिए, ऐसा लगता है कि यहाँ किसी मनुष्य की ज़िंदगी में किशोरावस्था का कोई ऐसा स्पष्ट चरण नहीं आता है, जब व्यक्ति बग़ावत करता है, और जिसमें व्यक्ति ख़ुद को अपने परिवार के ख़िलाफ़ परिभाषित करता है ('आधुनिक' शहर-केंद्रित परिवार इसके अपवाद हैं)। *रॉलैण्ड* के अनुसार, हिंदुस्तानी अंतःकरण का एक ऐसा रेडार विकसित कर लेते हैं, जो उन्हें दूसरे के अनुकूल बनाता है। इसके कारण वे वही बातें कहते हैं जो व्यक्ति और संदर्भ के हिसाब से ठीक होती हैं। (इसलिए यह अचरज की बात नहीं है कि *मैक्स म्यूलर* को इस बात पर ज़ोर देना पड़ा कि भारतीय सच्चे होते हैं)। *रॉलैण्ड* ने यह भी पाया कि हिंदुस्तानी लोग किसी जगह तक जाने का रास्ता बताते वक़्त किन्हीं ख़ास स्थानों या उससे जुड़े चिन्हों की ओर इशारा करते हैं।[30]

इसलिए मुझे लगता है कि संदर्भ पर इतना व्यापक ज़ोर देने के पीछे हिंदुओं के जातिपरक सरोकार रहे हैं— जाति यानि कोटियों और प्रजातियों में वर्गीकरण का तर्क, जिसके तहत इंसान भी एक जाति की मिसाल-मात्र है। मौसम, भदृश्य, समय, गुणधर्म (जिसमें उनका भौतिक आधार शामिल है), आस्वाद, किरदार, एहसासात, रस, आदि के तमाम वर्गीकरण हिंदू चिकित्साशास्त्र और काव्य, रसोई और धर्म, कामकला और जादू-टोने के चिंतन व कर्म के आधार हैं। करणीय-अकरणीय के लिए हर जाति या वर्ग एक संदर्भ, प्रासंगिकता का एक ढाँचा, स्वीकार्य संयोजनों का एक नियम, और ज़िक्र की एक रूपरेखा परिभाषित करता है— ग़रज़ कि सम्प्रेषण का एक महाशास्त्र रचता है।

इसलिए इस बात पर हैरत नहीं होनी चाहिए कि भारतीय दर्शन की व्यवस्थाएँ, हिंदू, बौद्ध और जैन

> ख़ुद को वर्ग-सत्व (जाति) के विचार तक सीमित रखती हैं जिसे पश्चिमी दर्शन में प्रजाति कहा जाता है। इसमें कभी भी यह सवाल खड़ा नहीं किया गया है कि क्या दूसरे तरह के अर्थात इनसे मिलते-जुलते गुणों और संबंधों के सार्वभौमिक रूप मौजूद हैं। ऐसा लगता है कि यहाँ मु य मान्यता यह है कि गुण और संबंध विशिष्ट होते हैं, लेकिन कभी-कभार उनके सार्वभौमिक होने के उदाहरण भी मिल सकते हैं।[31]

---

[29] रिचर्ड श्वेडर (1972), *सेमैंटिक स्ट्रक्चर ऐंड पर्सनैलिटी असेस्मेंट.* पीएच.डी डेज़र्टेशन, हार्वर्ड युनिवर्सिटी.

[30] ऐलन रॉलैण्ड (1979), *इन सर्च ऑफ़ द सेल्फ़ इन इंडिया ऐंड जापान: टूवर्ड अ क्रॉस-कल्चरल साइकॉलाजी,* प्रिंस्टन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंस्टन.

[31] राजा राम द्रविड (1972), द *प्रॉब्लम ऑफ़ युनिवर्सल इन इंडियन फ़िलॉसफ़ी,* मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली : 347.

ये तो तय है कि किसी संदर्भ-संवेद्य तंत्र और उसके परस्पर जुड़े हुए वर्गीकरण का सबसे अहम और सुगम मॉडल किसी भाषा का व्याकरण है। और व्याकरण बहुतेरे हिंदू शास्त्रों के चिंतन का केन्द्रीय मॉडल है। जैसा कि फ़्रिट्स स्टाल ने कहा भी है, जो अहमियत युक्लिड की युरोपीय चिंतन के लिए है, वही जगह पाणिनी की भारतीयों के लिए। कामसूत्र भी तो अंततः एक व्याकरण ही है, जो स्त्री-पुरुष का संज्ञा-क्रिया की तरह विविध लिंगों, वचनों, वाच्यों, भंगिमाओं आदि में विधेय या निषेध करता है। लिंग अर्थात विधा। भिन्न दैहिक व चारित्रिक क़िस्मों के इंसान मुख़्तलिफ़ नियम अपनाते हैं, अलग-अलग गंध या सदाओं पर प्रतिक्रिया करते हैं।

इस प्रकार की दुनिया में अर्थ के तंत्र संदर्भ से या फिर श्रोता के स्वभाव और सत्व से तय होते हैं। बृहदारण्यक 5.1 में भगवान प्रजापति तीन बार 'द द द' की मेघ-गर्जना करते हैं। आनंद-भाव में लीन रहने वाले देवताओं ने 'दम्यता' यानि दमन/नियंत्रण का नाद सुना। क्रूरता-प्रिय दानवों ने 'दयाध्वम्' अर्थात 'दयालु बनो' सुना, जबकि लालची मानवों ने 'दत्ता' यानि 'दूसरों को दो' सुना।

V

सभी समाजों में संदर्भ-संवेद्य व्यवहार और नियम होते हैं। लेकिन यह मुमकिन है कि वहाँ प्रभुत्वशाली आदर्श यह न हो कि 'संदर्भ-संवेद्य' व्यवहार और नियम अपनाया जाये। इसकी बजाय वहाँ 'संदर्भ-मुक्त' होने पर ज़ोर दिया जा सकता है। प्रॉटिस्टेंट क्रिश्चियैनिटी सार्वभौमिक और अनूठे- दोनों की ही कल्पना मिलती है। यह इस बात पर ज़ोर देती है कि हर सदस्य समूह के दूसरे सदस्यों के *बराबर* है और *उन्हीं की तरह* है। किसी व्यक्ति का जन्म-स्थान, वर्ग, लिंग, उम्र, हैसियत और ओहदा आदि चाहे जो भी हो- एक इंसान सबसे पहले एक इंसान होता है। तकनीक की अपनी एक ख़ास संरचना होती है और इसके कई भागों में कोई बदलाव नहीं किया जा सकता है। इसी तरह, पुनर्जागरण के बाद के सार्विक नियमों (और तथ्यों) ने एक ऐसी स्थिति हासिल करने की कोशिश की, जिसमें इन्हें हर तरह के संदर्भों में लागू किया जा सके। इन दोनों (अर्थात तकनीक और पुनर्जागरण के बाद के सार्विक नियमों) ने मिलकर 'संदर्भ-मुक्त' होने के प्रति झुकाव और पूर्वाग्रह को बढ़ावा दिया। फिर भी, हर समाज के कमज़ोर पक्ष और वंचित पक्ष भी होते हैं। जो समाज मु य रूप से 'संदर्भ-मुक्त' हैं, वहाँ विरोध आंदोलनों में 'संदर्भ-संवेद्यता' होने की प्रवृत्ति होती है। एक ख़ास स्थिति से जुड़ी नैतिकता, अर्थ और रंग का विट्गेंस्टाइन का मॉडल (यह वर्ग-तर्कशास्त्र के ख़िलाफ़ है), विविध तरह की सापेक्षिकताएँ, यहाँ तक कि मानवशास्त्र में देशज अवधारणाओं की खोज, चिकित्सा में पूर्णतावादी आंदोलन (प्राकृतिक चिकित्सक यह मानते हैं कि हर व्यक्ति अपने तरीक़े से इलाज की प्रणाली बना सकता है) इसके उदाहरण हैं। भारत जैसी 'पार परिक' संस्कृतियों में संदर्भ-संवेद्य के नियम और बंधन मौजूद हैं, यहाँ मुख्य सपना यह है कि संदर्भ से मुक्त हुआ जाए। इसलिए सौंदर्यशास्त्र में *रस*, 'जीवन के लक्ष्यों' में *मोक्ष*, जीवन के चरणों में *संन्यास*, अर्थ-विचार में *स्फोट* और धर्म में *भक्ति* ख़ुद को सख़्त संदर्भशीलता की पृष्ठभूमि के ख़िलाफ़ परिभाषित करते हैं।

यहाँ *काम*, *अर्थ* और *धर्म*- सभी अपने मूल्यों में सापेक्षिक हैं। ये समय, स्थान, व्यक्तिगत चरित्र और सामाजिक भूमिका से जुड़े हुए हैं। मोक्ष सभी संबंधों से मुक्ति है। ब्रह्मचर्य एक पूर्ण सापेक्षिक जीवन की तैयारी है। गृहस्थाश्रम में व्यक्ति इस जीवन को पूरी तरह से हासिल करता है। मनु बाक़ी सभी अवस्थाओं की तुलना में गृहस्थाश्रम को वरीयता देते हैं। वानप्रस्थ अवस्था में व्यक्ति वनवासी-रूप में रहता है। इसमें सारे बंधन काफ़ी कमज़ोर हो जाते हैं। और संन्यास में व्यक्ति अपने अतीत और वर्तमान के सभी संबंधों का दहन कर देता है। भावनाओं के क्षेत्र में *भाव* निजी, आकस्मिक और संदर्भ से बँधी हुई संवेदनाएँ होती हैं, *विभाव* निर्धारक कारण होते हैं और अनुभाव नतीजे के रूप में सामने

आने वाली अभिव्यक्तियाँ होती हैं। लेकिन *रस* सामान्यीकृत होता है, सार-तत्त्व होता है। अर्थ के क्षेत्र में अक्षरों और ध्वनिग्राम का सांसारिक अनुक्रम, वाक्य शब्दों की शृंखला एक *स्फोट* या विस्फोट को जन्म देती है, एक अर्थ का जो क्रम और समय से परे होता है।

इन सभी में एक ही तरह का पैटर्न सामने आता है: एक ख़ास समय पर चरण और संदर्भ के सख़्त नियमों के साथ होने वाले आवश्यक क्रम का अंत एक मुक्त अवस्था में होता है।

हिंदू धर्म की महान संदर्भ-विरोधी अवधारणाओं में आख़िरी अवधारणा भक्ति की है जो ऊपर-वर्णित अन्य अवधारणाओं से अलग है: यह संदर्भ की आवश्यकता को ही पूरी तरह नकारती है, और सभी संदर्भयुक्त संरचनाओं को ख़ारिज करती है, हर संकुचित श्रेणी से परे जाती है। जाति, कर्मकांड, लिंग, उचित पहनावे या रीति, जीवन के चरण, ग़रज़ कि होमो हायरार्किकस ('पदानुक्रमित मनुष्य') की पूरी व्यवस्था इसके व्यंग्य का शिकार बनती हैं।

> क्या स्वामिनी की साँसों में
> हैं छातियाँ और केश लम्बे ?
> या पहन रखे हैं जनेऊ
> स्वामी की साँसों ने ?
>
> क्या आख़िरी पाँत में खड़ा, जात-बाहर,
> धरे रहता अपनी छूटती साँस से
> अपने कुल का दंड ?
>
> इस जगत के मूढ़ जानें क्या
> तुमने बिछाये पाश क्या
> हे रामनाथ ?[32]

युरोपीय संस्कृति में कोई इस बात का उल्लेख कर सकता है कि प्लेटो ने ऐथेंसवादी लोकतंत्र के ख़िलाफ़ बग़ावत की थी (भले ही यह एक सीमित बग़ावत थी)। या इसी तरह *ब्लेक* ने 19वीं सदी के तकनीकशाही लोकतंत्र में समतावाद, अमूर्त्तता और अँधेरे शैतानी मिलों के ख़िलाफ़ विरोध जताते हुए हर छोटी-से-छोटी विशिष्ट बातों पर ध्यान देने का आह्वान किया। उन्होंने यह घोषणा की कि सामान्यीकरण करना मूर्खता है (इस तरह उन्होंने ख़ुद ही सामान्यीकरण किया)। और उन्होंने सभी संदर्भ-संवेदनशील व्यवस्थाओं के लिए यह नारा दिया कि शेर और बैल के लिए एक ही तरह का क़ानून बनाना दमन करना है। मैं पश्चिम में विशिष्टतावाद पर ज़ोर देने की प्रवृतियों में उन्नीसवीं सदी के उपन्यास में सूक्ष्म यथार्थवाद के उदय और आधुनिक कला में विविध सांकेतिक (इनडेक्सिकल) आंदोलनों को भी शामिल करूँगा।

पश्चिमी दर्शन, कला और शासन की विशिष्ट या सार्विक चिंताओं में अमूमन विरोधाभास रहा है। ये दोनों ही भारतीय कला और दर्शन की मुख्य चिंताएँ नहीं रही हैं। सिर्फ़ प्रति-संस्कृतियों या आधुनिकता की कोशिशों में ऐसा देखा जा सकता है, जिन्हें जल्द ही अस्तित्वमान संदर्भ-संवेद्य खाँचों में बहाल करके नये रूप में ढाल दिया गया (भक्ति आंदोलनों की नियति में यह बात सामने आती है)।

---

[32] यह कविता दसवीं सदी के कवि दासिमय्या की है। देखें ए. के. रामानुजन (1973), *स्पीकिंग ऑफ़ शिवा,* पेंगुइन, बॉल्टीमोर.

VI

निष्कर्ष के रूप में, मैं 'आधुनिकीकरण' के बारे में कुछ टिप्पणियाँ करना चाहूँगा। कोई यह कह सकता है कि भारत में आधुनिकीकरण सभी क्षेत्रों में संदर्भ-संवेद्य से संदर्भ-मुक्त होने की गतिशीलता के रूप में देखा जा सकता है: कम-से-कम सैद्धांतिक रूप से इसे संदर्भ के क्षरण के रूप में देखा जा सकता है। गाँधी की घड़ी (एकरूप ख़ुदमुख़्तार वक़्त की उनकी पाबंदी का प्रतीक) ने पंचांग की जगह ले ली। फिर भी, उसी गाँधी ने *एमर्सन* के इस विचार को भी उद्धृत किया कि एकनिष्ठता मूर्खों के दिमाग़ की सनक है। प्रिंट ने ताड़-पत्रों की जगह ली। इसने इस बात को मुमकिन बनाया कि हर जाति के लोगों के लिए ज्ञान के दरवाज़े खुलें और उन्हें वह स मान रूप में मिले। भारतीय संविधान ने जन्म, क्षेत्र, लिंग और नस्ल के संदर्भों को अप्रासंगिक बना दिया है। लोगों के पार परिक नाम से उनके जन्म-स्थान, पिता के नाम, जाति, उप-जाति और स प्रदाय का पता चल जाता था। लेकिन अब लोग जिस तरह के नामों को वरीयता दे रहे हैं, उनसे इन पहलुओं का पता नहीं चलता है। मैंने एक बार केरल कॉलेज के रोस्टर में पाया कि वहाँ तीन 'जोज़फ स्टालिन' थे और एक 'कार्ल मार्क्स' भी। मैंने आंध्र के एक व्यक्ति का नाम 'बॉबिली विंस्टन चर्चिल' भी सुना है।

अब संगीत में रागों को हर घंटे और हर मौसम में सुना जा सकता है। एक ऐसा समय था जब तिरूपति के भगवान को जगाने वाला भजन वेंकटेशसुप्रभातम सिर्फ़ तिरुपति में और सुबह के खास पहर में ही सुना जा सकता था। अब चूँकि एम. एस. सुब्बुलक्ष्मी ने अपनी भक्ति भेंट के रूप में इन भजनों को रिकॉर्ड कर दिया है तो ये भजन सिर्फ़ भगवान को ही नहीं बल्कि हर उस इंसान को— जो दूर-दराज़ बैठकर भी ऑल इंडिया रेडियो लगा सके — जगाते हैं।

भारत से पश्चिम में या भारत द्वारा पश्चिम से लिए गये सांस्कृतिक उधार मौजूदा व्यवस्था से अनुकूलन की दिलचस्प मिसालें हैं। निहायत संदर्भ-संवेद्य हिंदू तंत्रों का राधाकृष्णन जैसे लकीर के फ़क़ीरों का आधुनिक और पाश्चात्य पाठकों के लिए 'हिंदू नज़रिये' के रूप में सामान्यकीकरण होता ही आया है। योग-ध्यान की वैयक्तिक विचित्रताओं को उनके संदर्भों से काटकर व्यापक पहुँच वाली धाराओं में समाहित कर दिया गया है। और जब टी.एस एलियट 'द वेस्टलैंड' का उपसंहार करते समय ऊपर उद्धृत 'द द द' वाला प्रसंग उठाते हैं, तो यह एक साथ निरा वैयक्तिक, अंतर्मुखी, और सार्विक हो जाता है:[33]

> तब मेघगर्जना हुई :
>
> द
>
> दत्त : हमने क्या किया है ?
>
> मेरे मित्र, ख़ून दौड़ता मेरे सीने में
>
> एक क्षण के समर्पण का विस्मयकारी दु:स्साहस
>
> जिसे एक दुनियादार ज़माना कभी पीछे नहीं लौटा पाता
>
> इससे, और सिर्फ़ इससे ही, हम बच पाये हैं
>
> जो कि हमारे मृत्युलेख में नहीं पाया जाएगा
>
> या जो परोपकारी मकड़ी के बुनी गयी स्मृतियों में
>
> या उस दुबले मु.तार द्वारा तोड़े गये ठप्पों में

---

[33] टॉमस स्टर्न्स एलियट (1930), *द वेस्टलैण्ड ऐंड अदर पोएम्स,* हरकोर्ट ब्रेस, न्यू यॉर्क.

हमारे ही ख़ाली कमरों में
द
दयाध्वम : मैंने सुनी है चाभी की आवाज
दरवाजे में घूमते एक और सिर्फ़ एक बार
हममें से हर एक सोचता चाभी के बारे में, बंद अपने-अपने क़ैदख़ाने में
चाभी की सोचता, हर एक कर रहा नुमाइंदगी क़ैदख़ाने की
सिर्फ़ रात ढले, हवाई अफ़वाह
एक क्षण के लिए जिला डालते हैं, टूटे कोरियोलैनस को
द
दम्यता : उस नाव ने पलटकर कहा
उल्लसित हो, नाव और पतवार में दक्ष हाथ को
धीर सागर, तुम्हारे हिये ने कहा होता प्रत्युत्तर में
उछाह से, जब कभी निमंत्रित, वशीभूत हो धड़कता
उन कुशल हाथों के।

इसके उलट पाश्चात्य संस्कृति से आयातित उपादानों में रद्दोबदल करके उन्हें पहले से मौजूद संदर्भ-संवेद्य ज़रूरतों के मुताबिक़ ढाल लिया जाता है। अंग्रेज़ी को भारतीय संदर्भों में आयातित या आरोपित करने से यह संस्कृत वाली पारम्पारिक जगह में फ़िट हो जाती है; फिर इसमें उस पुरानी पितृ-भाषा के संस्कार आ जाते हैं, जिसका एक अखिल भारतीय अभिजनवादी चरित्र भी रहा है— संस्कृत यानि क़ानून, विज्ञान, और निज़ाम का माध्यम, संस्कृत यानि लयात्मक सूत्रों की ज़बान— इस तरह यह भारत के बहुभाषी पदानुक्रम (डायग्लॉसिया) का हिस्सा बन जाती है, जो कि वैसे भी हर संदर्भ-संवेद्य समाज की ख़ासियत होती है। जब हिंदुस्तानी आधुनिक विज्ञान, व्यावसाय, या प्रौद्योगिकी आदि सीखते हैं, और उनमें महारत हासिल करते हैं, तो वे इन रुचियों के अलग-अलग खाने बना लेते हैं;[34] नया चिंतन और व्यवहार पुराने की जगह नहीं ले लेता, बल्कि पुराने 'धार्मिक' तौर-तरीक़ों के साथ-साथ चलता है। कम्प्यूटर और टाइपराइटरों की बाक़ायदा आयुध-पूजा होती है, गोया वे पुराने ज़माने के युद्धास्त्र हों। इस तरह जो 'आधुनिक' और संदर्भ-मुक्त है वह ख़ुद एक और संदर्भ बन जाता है, भले ही इसको आसानी से नियंत्रित या धारण न किया जा सके।

आधुनिक चिंतन में *विलियम जे स* ने 'उप-ब्रह्मांडों' की अपनी अवधारणा पेश की। इसी तरह, *अल्फ्रेड श्यूट्च* ने किसी भी तरह की समझ के लिए 'यथार्थ के सीमित ख़ित्ते' और 'प्रासंगिकता' को मुख्य अवधारणााओं के रूप में पेश किया। इन दोनों को ही मेरे द्वारा बताये गये संदर्भ-संवेद्य और संदर्भ-मुक्त विचारों के तरीक़ों की रोशनी में पढ़ा जाना चाहिए। विज्ञान का सबसे हालिया रूप भी व्या या के असंगत तरीक़ों को एक साथ रख सकता है। मसलन, प्रकाश के तरंग या अणु-सिद्धांत को इसका एक उदाहरण माना जा सकता है। पश्चिम में एक तरह का विपरीत-आंदोलन चला है। अब वहाँ *शूमाकर* के 'छोटा ख़ूबसूरत है' जैसे विचार को भी काफ़ी महत्त्व दिया जाना लगा है। इसी तरह, यहाँ समुचित तकनीक के विचार का महत्त्व भी बढ़ा है और अब यहाँ 'मेल्टिंग पॉट' (बहु-संस्कृतिक कड़हा) को एक ढाँचे में फिट करने की बजाय जातीयता की ओर भी ध्यान दिया जाने

---

[34] मिल्टन बी. सिंगर (1972), *व्हेन अ ग्रेट ट्रैडिशन मॉडर्नाइज़ेज़,* प्रेजर, न्यू यॉर्क : 320एफ़एफ़.

लगा है। यद्यपि ये विचार अभी सफल नहीं हुये हैं, लेकिन इनकी आहट तो हवाओं में हैं उसी तरह जैसे कि भाषा-विज्ञान में संचार के जातीय अध्ययन की बातें चलने लगी हैं।

यहाँ मेरा मक़सद दो महत्त्वपूर्ण बलाघातों का मूल्यांकन करना नहीं है, बल्कि उनके वर्णन की एक कोशिश है। दरअसल, संस्कृतियों के इन दोनों ही प्रकारों में बहुत ज़्यादा पेचीदगी और अस्थिरता के बावजूद एक तयशुदा पूर्वाग्रह मौजूद है। बुद्ध (जिन्होंने यह कहा था कि 'जब हम देखते हैं कि किसी व्यक्ति को ज़हर भरे तीर से मारा गया है, तो हम उसके दुश्मन की जाति नहीं पूछते हैं') ने लकड़ी के बेड़े के बारे में यह नीति-कथा भी सुनायी थी: एक बार अचानक आयी बाढ़ में एक व्यक्ति डूब रहा था। डूबते-डूबते उसे एक बेड़ा मिल गया। वह उससे चिपट गया और इस तरह सुरक्षित ज़मीन तक पहुँच गया। वह बेड़े का इतना अहसानमंद हो गया कि उसे ताज़िंदगी पीठ से चिपकाकर घूमता रहा। जो संदर्भ-मुक्त व्यवस्थाओं के बारे में बुद्ध की व्यंग्यात्मक टिप्पणी थी।

संदर्भ

ई. वैलेन्टाइन डैनियल (1984), *फ़्लूइड साइन्स: बीईंग अ पर्सन तमिल वे.* युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफोर्निया प्रेस, बर्कले.

ए.के. रामानुजन (अनुवाद) (1967), *दि इंटिरियर लैण्डस्केप: लव पोएम्स फ्रॉम अ क्लासिकल तमिल एंथॉलजी,* इंडियाना युनिवर्सिटी प्रेस, ब्लूमिंगटन.

—— (1973), *स्पीकिंग ऑफ़ शिवा,* पेंगुइन, बॉल्टीमोर.

—— (1980), *हिम्स फॉर द ड्रूनिंग,* प्रिंस्टन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंस्टन.

—— (1986), *सेकेण्ड साइट,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली.

एडवर्ड मॉर्गन फ़ॉस्टर (1952), *अ पैसेज टू इंडिया,* हारकोर्ट प्रेस, न्यू यॉर्क.

एडवर्ड बी. हार्पर (1959), *अ हिंदू विलेज पैंथियन. साउथवेस्टर्न जर्नल ऑफ़ एंथ्रोपॉलजी* 15.

एडवर्ड सईद (1978), *ओरियन्टलिज़म,* पैंथन, न्यू यॉर्क.

एलन रोलैण्ड (1979), *इन सर्च ऑफ़ द सेल्फ़ इन इंडिया ऐंड जापान: टुवर्ड अ क्रॉस-कल्चरल साइकोलॉजी,* प्रिंस्टन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंस्टन.

क्लॉद लेवि-स्त्रॉस (1962), *द सैवेज माइंड,* युनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस, शिकागो.

क्लिफ़र्ड गीयर्ट्ज (1973), *द इंटरप्रेटेशन ऑफ़ कल्चर,* बेसिक बुक्स, न्यू यॉर्क.

केनेथ बर्क (1946), *अ ग्रैमर ऑफ़ मोटिव्स,* युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफोर्निया प्रेस, बर्कले.

चार्ल्स सैंटियागो सैण्डर्स पियर्स (1931-58), *कलेक्टेड पेपर्स,* 7 खंड, हार्वर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज एमए.

जॉर्ज वेलहेम फ्रेडरिक हेगेल (सीए) (1827), *लेक्चर्स ऑन फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ हिस्ट्री.*

जॉन ल्योन्स (1971), *इंट्रोडक्शन टू थियोरेटिकल लिंगविस्टिक्स,* केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

जॉन लेस्ली मैकी (1977), *एथिक्स इनवेंटिंग राइट ऐंड रॉन्ग,* पेंगुइन बुक्स, हार्मन्ड्सवर्थ.

डेनियल, (सम्पा), *कर्मा: एन एंथ्रोपोलॉजिकल इंक्वायरी,* युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफोर्निया प्रेस, बर्कले.

थॉमस स्टेरन्स इलियट (1930), *द वेस्टलैण्ड ऐंड अदर पोएम्स,* हरकोर्ट ब्रेस, न्यू यॉर्क.

फ्रेडरिक चार्ल्स कॉपलेस्टॉन (1946), *अ हिस्ट्री ऑफ़ फिलॉसफी,* वॉल्यूम 6, बर्न्स, ओटेस ऐंड वाशबोर्न, लंदन.

फ्रेडरिक मैक्स म्यूलर (1883), *इंडिया: व्हाट कैन इट टीच अस?,* लॉन्गमैन्स ग्रीन, लंदन.

फ्रैंसीस बी. ज़िमरमैन (1979), 'रिमार्क्स ऑन बॉडी इन आयुर्वेदिक मेडिसीन'. *साउथ एशियन डाइजेस्ट ऑफ़ रीजनल राइटिंग्स,* खंड 18.

—— (1980), 'ऋतु-सात्म्यः द सिजनल साइकिल ऐंड द प्रिंसिपल ऑफ़ एप्रोप्रिएटनेस', *सोशल साइंस ऐंड मेडिसीन,* खंड 14बी.

मनु (1886). *द लॉज ऑफ़ मनु* (अनुवाद जॉर्ज ब्यूहलर). सेक्रेड बुक्स ऑफ़ दि ईस्ट, वॉल्यूम 25. क्लैरेण्डन प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.

मारग्रेट ट्राविक इंगोर (1975), *प्रिंसिपल्स ऑफ़ कंटिन्यूइटी इन थ्री इंडियन साइंसेज.* एम.ए. पेपर, डिपार्टमेंट ऑफ़ एंथ्रोपॉलजी, युनिविर्सिटी ऑफ़ शिकागो.

मिल्टन बी. सिंगर (1972), *व्हेन अ ग्रेट ट्रेडिशन मॉडर्नाइजेज़,* प्रेजर, न्यू यॉर्क.

मैक्किम, मैरिऑट, (1976), 'हिंदू ट्रांज़ैक्शन्सः डायवर्सिटी विदाउट ड्युअलिज़म', ब्रूस केफेरर (सम्पा.), *ट्रांज़ैक्शन्स ऐंड मीनिंगः डायरेक्शंस इन द एंथ्रोपॉलजी ऑफ़ एक्सजेंज़ ऐंड सिंबॉलिक विहेवियर,* इंस्टीट्यूट फ़ॉर द स्टडी ऑफ़ ह्युमन इश्शूज़, फ़िलाडेल्फ़िया.

—— (1980), 'दि ओपन हिंदू पर्सन ऐंड इंटरपर्सनल फ़्लूइडिटी', पेपर प्रज़ेण्टेड ऐट दि ऐनुअल मीटिंग ऑफ़ एसोसिएशन फ़ॉर एशियन स्टडीज़. वॉशिंगटन डीसी.

राम द्रविड (1972), *द प्रॉब्लेम ऑफ़ युनिवर्सल इन इंडियन फ़िलॉसफ़ी,* मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली.

रॉबर्ट लिंगेट (1973), द *क्लासिकल लॉ ऑफ़ इंडिया* (अनुवादः डी. एम. डेरिट), युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया प्रेस, बर्कले.

रिचर्ड श्वेडर (1972), *सिमैंटिक स्ट्रक्चर ऐंड पर्सनैलिटी असेस्मेंट.* पीएच.डी. डेज़र्टेशन, हार्वर्ड युनिवर्सिटी.

रॉनल्ड बी. इंडेन (1978). 'रीचुअल अथॉरिटी ऐंड साइकलिक टाइम इन हिंदू किंगशिप.' जॉन एफ. रिचर्ड्स, (सम्पा.), *किंगशिप ऐंड अथॉरिटी इन साउथ एशिया,* पब्लिकेशन सीरीज़, पब्लिकेशन नंबर 3. साउथ एशियन स्टडीज़, युनिवर्सिटी ऑफ़ विसकॉनशीन, मेडिसन.

लुई रेनॉ (1950क), 'उन थीमे लितरेयर ऑन संस्कृतः' संकलित, लुई रेनॉ, *संस्कृत एत कल्चर,* पेयो, पेरिस.

—— (1950ख), *वेदिक ऋतु. अर्काइव ओरियंतालिनी,* खंड 18.

वी. एस. नॉयपाल (1977), *अ वून्डेड सिविलाइज़ेशन,* रैण्डम हाउस, न्यूयॉर्क.

शेरिल बी. डैनियल (1983), 'द टूल बॉक्स अप्रोच ऑफ़ द तमिल टू दि इश्शू ऑफ़ मोरल रिस्पॉन्सिबिलिटी ऐंड ह्यूमन डेस्टिनी', चार्ल्स एफ़. केऽज़ और ई. वैलेंटाइन डैनियल, (सम्पा.), *कर्माः ऐन एंथ्रोपॉलजिकल इंक्वायरी,* युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया प्रेस, बर्कले.

हेनरिक रॉबर्ट ज़िमर (1946), *मिथ्स ऐंड सिम्बल्स इन इंडियन आर्ट ऐंड सिविलाइज़ेशन,* पैंथन, न्यू यॉर्क .